Research Article

श्रीमद्भगवद्गीता का यज्ञ दर्शन – एक विवेचनात्मक अध्ययन

अनुराग जायसवाल[1*]

[1]अतिथिशिक्षक, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन
*Corresponding author Email: anurag13198@gmail.com
http://doi.org/10.36018/ijyr.v3i1.48

सारांश. यज्ञ वैदिक काल से एक प्रचलित अवधारणा रही है। यह अग्निहोत्र जैसी कर्मकांड परक क्रिया से लेकर आत्म परिष्कार की प्रखर आध्यात्मिक साधना को समाहित करता है। अन्य पुरातन विधाओं के समान यज्ञ की स्थूल मान्यता भी आज लोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ के तीन अर्थ- दान, संगतिकरण व देवपूजन हैं। जिन के व्यापक अर्थ भगवद्गीता में मिलते हैं। भगवद्गीता में यज्ञ एक 'जीवनदर्शन' है। कर्म सम्पादन की शुभ्र व सप्राण प्रेरणा के रूप में यज्ञ की प्रतिष्ठा है ; 'यज्ञार्थ कर्म' से कर्त्ता के कर्म ही आहुति रूप होकर परमार्थ के विराट कुण्ड में अर्पित किए जाते हैं। कामना , लोभ व निष्क्रियता से रहित जीवन क्रम यज्ञमय बनता है , जो संकीर्णता जन्य असंतोष से मुक्ति प्रदान करने वाला है। यज्ञीय जीवन सहकार व सह-अस्तित्व के मूल्यों से युक्त एक सतत प्रवहमान अवस्था है, जिसमें हर क्षण कर्म व्यक्त व विलीन होते हैं। गीतामें यज्ञ विविध प्रकार से है। इसे अर्पण द्वारा आरोहण की क्रिया माना गया है , जिसमें चेतना निम्न स्वभाव से उच्च व उच्चतर रूपों की ओर बढ़ती है। यह एक ओर साधनों का महत प्रयोजन के लिए संधान है , जो कर्मयोग का पर्याय बनता है, दूसरी ओर आत्म शुद्धि की सूक्ष्म व गुह्य प्रक्रिया।

कूटशब्द. यज्ञ, कर्म, मुक्ति, आत्मशुद्धि, भगवद्गीता, श्रीमद्भगवद्गीता।

भूमिका

भगवद्गीतामें तीसरे अध्याय से यज्ञ का विचार है। तीसरे अध्याय में यज्ञ की वैदिक रीति के अनुसार किए जाने वाले अनुष्ठान के स्वरूप का वर्णन है। यहां देवताओं और यज्ञ का अन्योन्य संबंध भी वर्णित है।

श्री अरविंद के अनुसार, "गीता में यज्ञ के सिद्धांत का प्रतिपादन दो पृथक स्थानों पर हुआ है , पहला वर्णन उसे इस प्रकार के शब्दों में प्रयुक्त करता है कि यदि हम उन शब्दों को उसी रूप में ग्रहण कर लें तो ऐसा जान पड़ेगा कि वह केवल वैदिक विधि के अनुसार अनुष्ठान किए जाने वाले स्थूल यज्ञों का प्रतिपादन कर रहे हों " (1)। बाल गंगाधर तिलक के अनुसार, "ज्ञान विषयक ग्रंथ भी गीता कहलाते हैं"। (2) गीता यज्ञ के कर्म-काण्ड पर बात न करके उसके ज्ञान-काण्ड वाले पहलू की विवेचना करती है।

तीसरे अध्याय में प्रजापति द्वारा यज्ञ की उत्पत्ति तथा देवों का इसके माध्यम से पोषण करने का वर्णन है। यज्ञ से पोषित देवों का याजक पर पड़ने वाला प्रभाव याजक को इष्ट भोग की प्राप्ति कराएगा, इस प्रकार के अर्थ यहाँ वर्णित हैं।

"दूसरा वर्णन यज्ञ को एक व्यापक दार्शनिक प्रतीक का भाव प्रदान करता है। उसके संपूर्ण अर्थ को बदल देता है और उसे एक ऊंचे मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक सत्य के स्तर में उठा देता है"– गीता विज्ञान, श्री अरविंद (1) ।

स्थूल कर्मकांड की दृष्टि से यज्ञ की अवधारणा का प्रयोग उसका विज्ञान पक्ष हुआ जो कि व्यवहारगम्य है। तत्वज्ञान यज्ञ का वह स्वरूप है , जिसमें यज्ञ को व्यष्टि व समष्टि के कार्यों में होने वाली अन्योन्याश्रित परिघटना बताया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ का स्वरूप

यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।। (3/9)

अर्थ- यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मों से बंधता है। इसलिए हे अर्जुन! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भली भांति कर्तव्य कर्म कर (3)।

यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त कर्म में लगा हुआ मनुष्य कर्म में बंधता है। तीसरा अध्याय कर्मयोग का है , इसके पूर्व भगवान श्रीकृष्ण द्वारा ज्ञान की महिमा बताई गई है, किंतु यहां ज्ञान के साथ कर्म को जोड़ा गया है। ज्ञानी का कर्म कैसा हो यहां हमें यह ज्ञात होता है। यज्ञ की भावना से इतर किसी भाव को रखकर किया जाने वाला कर्म कर्ता को ही उलझन में डाल देता है। वह कर्म तो करता है परंतु वह एक जैविक घटना जैसी होती है, उसके पीछे निहित उद्देश्य का स्पर्श उसे नहीं होता। वह नाना प्रकार की अपेक्षाओं से संलिप्त हो जाता है। अपेक्षाएं कभी परिस्थितियों से तालमेल रखती हैं तो कभी उनसे विरोध भी हो जाता है। ऐसे में विकृत अपेक्षाएं व्यक्ति को उन कर्मों से ही और ज्यादा बांधती हैं। यह मन के असंतोष और ताप का कारण बनता है। यदि कर्म के द्वारा शांति और संतोष प्राप्त करना चाहे तो कर्म के फल से आसक्ति को अलग करके कर्म करें –"मुक्तसंगः समाचर" (3)।

लेकिन कर्म अनायास तो बन नहीं पड़ेगा। किसी चीज को करने के लिए कोई अर्थ होता है , निमित्त बनता है। वह निमित्त यहां यज्ञ को माना गया है। यज्ञ के निमित्त कर्म करना है , तब कर्मों के जंजाल से व परिणाम से मुक्त रहकर व्यक्ति बंधन मुक्त रह सकेगा। यज्ञ को यहां मोक्ष के लिए कर्म का निमित्त बताया गया है।

लोकमान्य तिलक के अनुसार , "मनुष्य जो कुछ करता है वह सब यज्ञ के लिए करता है सब कर्मों के दो वर्ग हो गए , एक यज्ञार्थ कर्म जो स्वतंत्र रीति से फल नहीं देते, अत एव अबंधक हैं, और दूसरे पुरुषार्थ कर्म जो पुरुष को लाभकारी होने के कारण बंधक हैं"- गीता रहस्य, पृष्ठ 54 (2)।

श्रीअरविंद ने 'गीता विज्ञान' में कहा है - "संपूर्ण जीवन, संपूर्ण विश्व प्रकृति का पुरुष को अर्पण किया जाने वाला यज्ञ है। जब तक हम अहंकार के अधीन हैं, तब तक हम अहंकार की तृप्ति के लिए और अहंकार की भावना में , यज्ञार्थ से भिन्न प्रकार कर्म करते हैं। अहंकार ही बंधन की ग्रंथि है" (1)।

यज्ञ का एक अर्थ त्याग भी है। त्याग मम भाव का किया जाता है। यह भाव अविद्या के कारण उत्पन्न होकर अनात्म तत्वों में आत्म भाव आरोपित करता है। यह आरोपण ही अहंकार की ग्रंथि है, जो बंधन का कारण है।

सामान्य रूपसे त्याग किसी वस्तु से संबंधित मान लिया जाता है। वस्तु का त्याग , त्याग का एक स्थूल प्रतीक मात्र है। वस्तु या पद के साथ अथवा इनके बिना भी यदि अनात्म तत्वों जैसे तीन गुणों और इनकी क्रियाशीलता में से आत्म भाव का त्याग कर दिया जाए तो मिथ्या ज्ञान के कारण उत्पन्न यह आरोपण की ग्रंथि भी कट जाती है और इस मनोभूमि में किया गया कर्म बंधन का कारण नहीं बनता है।

सहयज्ञाः प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (3/10)

अर्थ- प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओऔर यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो (3)।

प्रजाओं को रचने के साथ यज्ञ भी रच दिया। यज्ञ प्रजा का भाई हुआ। प्रजाओं की वृद्धि के निमित्त ही यज्ञ आया। यज्ञ के द्वारा उन प्रजाओं की वृद्धि हो सके, भोग की प्राप्ति भी इसी से हो। इस श्लोक में तीन बातें मिलती हैं; पहली है - प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचा। दूसरी है - यज्ञ द्वारा प्रजाओं की वृद्धि करने का सूत्र दिया। तीसरी है - यह यज्ञ इच्छित भोग प्रदान करने वाला है। यहां यज्ञ की प्रक्रिया बताई गई है, और उससे कल्याण कैसे प्राप्त हो सकता है यह भी।

परमात्मा का क्रियात्मक स्वरूप यज्ञ प्रक्रिया के रूप में मिलता है। वह यज्ञ में स्वयं प्रतिष्ठित होकर वैश्विक क्रियाओं का संचालन करने वाले हैं। पारिस्थिति की तंत्र के परस्पर सहयोग की प्रवृत्ति यज्ञ की उपरोक्त प्रक्रिया की स्थूल अभिव्यक्ति ही है।

देवान्भावयतानेन ते देवाभावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। (3/11)

"अर्थ- तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे " (3)। इसके अनुसार यज्ञ के द्वारा देवताओं और मनुष्यों (प्रजाओं) के मध्य आदान- प्रदान से दोनों का विकास (वृद्धि) होता रहे और परस्पर पोषण के साथ परम कल्याण को प्राप्त करना भी इसी से संभव है, ऐसा बताया गया है।

भारतीय संस्कृति ने यज्ञ को कर्तव्य के रूपमें कहा है, जो मनुष्य मात्र का धर्म है। आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार, "जिन्हें धर्म प्रिय है, वे वृद्धि को प्राप्त करते हैं और सब प्रकार के कल्याण को भी" (4)।

श्री अरविंद के अनुसार – "गीता यज्ञ की प्राचीन आर्य विचार धारा के अनुसार यज्ञ का प्रतिपादन करती है और उसे देवताओं और मनुष्यों के बीच में आदान-प्रदान मानती है " (1)।

आचार्य श्रीराम शर्मा जी ने कहा है - "दूसरा भिन्न आधार जिसके द्वारा परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है , वह है सहयोग। इसी पर ही सृष्टि की व्यवस्था टिकी है। सहयोग की परंपरा जड़ चेतन सब में देखी जा सकती है। जड़ चेतन में विभेद दिखता तो है , किंतु दोनों के बीच अन्य अन्योन्याश्रित संबंध है। एक के ऊपर दूसरे का अस्तित्व टिका है। विशाल ब्रह्मांड तथा पिण्ड सभी के अस्तित्व को व्यवस्थित बनाए रखने में 'सहयोगिता का सिद्धांत' ही कार्य करता है। परमाणु के प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन एक दूसरे के बीच आकर्षण बनाए रखते हैं। उनका परस्पर असहयोग परमाणु विस्फोट के रूप में दिखाई पड़ता है। उनके परमाणुओं के सहयोग से ही पदार्थ सत्ता स्थिर बनी रहती है अर्थात सहयोगिता पर सृष्टि की सुव्यवस्था टिकी है" - नियामक सत्ता एवं उसकी विधि व्यवस्था , आचार्य श्रीराम शर्मा (5)।

श्रीमद्भगवद्गीता (3/12) – के अनुसार,"यज्ञ के द्वारा बनाए हुए देवता तुम लोगों को बिना मांगे ही इच्छित भोग (कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री) निश्चय ही देते रहेंगे ", इस प्रकार देवताओं के द्वारा दिए हुए लोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है वह चोर ही है (3)।

उपरोक्त श्लोक में भोग प्राप्त होने के विषय में कहा गया है। यानि यज्ञार्थ कर्म करने से कर्म बंधन से मुक्त होने के साथ ही भोग भी प्राप्त होते रहे हैं। प्राप्त हुए भोग का उपभोग व उपयोग कैसे करना है इसमें भी यज्ञ का सिद्धांत समावेशित है। भोगों में से देवताओं को पुनः अर्पित करना यानि निःस्वार्थ भाव से भोग का उपभोग करना बताया गया है। यह ईशावास्योपनिषद के 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का समर्थन है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
याज्ञयाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। (4/23)

अर्थ- जो मनुष्य आसक्ति से रहित हो गया है , मुक्त है, जिसके मन, हृदय और आत्मा आत्मज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठित हो गए हैं और जो यज्ञ के रूप में कर्म करता है उसका संपूर्ण कर्म विलीन हो जाता है (3)।

यहां यज्ञ को ऐसे कर्म के रूप में स्थापित किया गया है , जिसमें कर्ता पहले अशुद्धि रूपी आसक्ति, जड़भाव वाले अज्ञान और बंधन के भाव से रहित हो गया हो। जब तक यह कार्य संपन्न नहीं हो जाता, उसके कर्म लोकबंधन के हेतु ही बनेंगे और तब वह यज्ञ करने वाला नहीं कहलाएगा। वहीं दूसरी ओर धर्म जगत में कहा जाता है और आज प्रायः यही प्रत्यक्ष दर्शन होता है कि मुक्ति का तात्पर्य , ज्ञानी हो जाने का तात्पर्य कार्य से विराम ले लेना है। कार्य से शून्य हो जाना है। कर्म को बंधन मान कर संन्यास की परिकल्पना की गई परंतु वह संन्यास यदि यज्ञ रूप कर्म से रहित हुआ तो पूर्णता की बजाय अन्ध सन्यास और बंधन का कारण ही बन जाएगा। अतएव यहां मुक्ति को लक्ष्य नहीं यज्ञार्थ कर्म करने की एक पात्रता के रूप में वर्णन किया गया है - 'मुक्तस्य' और यह मुक्त अवस्था कोई जड़भावापन्न दशा नहीं , ज्ञान युक्त अवस्था है ; 'ज्ञानावस्थित चेतसः 'चित्त की सम्यक ज्ञान में प्रतिष्ठा भी है।

श्रीअरविंद ने कहा है - "उसकी मुक्ति उसे ले शमात्र भी कर्म करने से नहीं रोकती। उसके कर्म मुक्त आत्मा से उद्भूत होते हैं और उसमें किसी प्रकार का भी विकार उत्पन्न किए बिना उन लहरों के समान विलीन हो जाते हैं जो कि अगाध चित्समुद्र के उत्तल पर उठती हैं और विलीन हो जाती हैं' (1)।

अर्जुन नामक पात्र सांख्य योग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता को कृष्ण से सुनता है फिर दूसरी तरफ कृष्ण ही उसे कर्म करने को प्रेरित कर रहे हैं -'युद्धाय कृत निश्चयः 'ऐसी दशा में सन्यास का भाव लिए अर्जुन द्वन्द्व में पड़ जाता है। ज्ञान योग जब श्रेष्ठ है तो कर्म करने की आवश्यकता क्या है ? इस भीषण लौकिक कर्म में क्यों नियोजित होऊँ? मेरी शिथिलता को भगवान क्यों धिक्कारते हैं ? इन द्वंद्वात्मक समस्याओं और उससे उपजे अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान से ही कर्म करने की तकनीक बताई गई, जिससे कर्म बंधन के कारण न बनें। ऐसा कर्म यज्ञ है। ज्ञानी यज्ञ के निमित्त कर्म करता है। ज्ञान योग से सम्यक दृष्टि प्राप्त होने के बाद किया जाने वाला कर्म संयत , सुनिश्चित और आसक्ति से रहित होगा। यज्ञ की यह शिक्षा कर्म के संबंध में हमारी समझ को व्यापक करने और इससे उसे विकसित करने के निमित्त कही गई है। यहां तक कि ज्ञान को भी यज्ञ के अंतर्गत ही समाहित कर ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता बताई गई है।

महात्मा गांधी ने कहा है - "यज्ञ में जीवन कला की पराकाष्ठा है। सच्चा रस उसी में है क्योंकि उसमें से रस के नित्य नए झरने प्रकट होते हैं , मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है "- महात्मा गांधी, 'हिंदू धर्म क्या है' पृष्ठ- 46 (8)।

वास्तव में देवताओं की पुष्टि परहित के कार्य में लोक कल्याणकारी योजनाओं के संचालन से होती है। लोक हितार्थ जीवन को महापुरुषों ने सेवा यज्ञ कहा है , और इस हेतु अपनी बुद्धि, धन, प्रतिभा व अन्य क्षमताओं को नियोजित कर देना यज्ञ अनुष्ठान जैसा ही माना है।

आचार्य श्रीराम शर्मा ने कहा है - "जो लोग बनावटी देवी - देवताओं पर हजारों रुपए भेंट चढ़ाकर आशीर्वाद और वरदान पाने की लालच में रहते हैं , वे परोपकार के कामों में कब आर्थिक सहायता करते हैं ? इस तरह के महास्वार्थी और मतिहीन लोगों से जो समाज भरा हुआ है , वह सर्वहितकारी किसी कार्यक्रम पर कब आगे कदम बढ़ा सकता है? वास्तव में अंधविश्वास व्यक्तिगत और सामुदायिक प्रगति में एक बड़ी बाधा के समान है। जब तक करोड़ों व्यक्तियों का धन , समय और परिश्रम इस प्रकार के उल्टे , उन्नति विरोधी कामों में लगता रहेगा, तब तक हितकारी और कल्याणकारी कार्यों की पूर्ति की आशा नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से देश भर की एक बहुत बड़ी जनसंख्या में फैले हुए ये तरह तरह के अंधविश्वास उपेक्षा के विषय नहीं हैं , और इनको मिटाने के लिए हर प्रकार से प्रयत्न करते रहना सब समाज हितैषियों का कर्तव्य है" - 'प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा' पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य, (8) ।

"जिसको जीवन में वास्तविक प्रसन्नता की जिज्ञासा हो वह अपने जीवन को यज्ञमय बनाए नित निरंतर दूसरों का हित साधन करें, जिससे वह अपनी वांछित वस्तु प्रसन्नता को नित निरंतर पाता रहे" - 'असंतोष के कारण एवं निवारण ', पंडित श्रीराम शर्मा अचार्य (8)।

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (3/13)

अर्थ- यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, और जो पापी लोग अपना शरीर-पोषण करने के लिए ही अन्न पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं (3)।

(3/12) में कहा गया है "उन देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिए स्वयं भोगता है, वह चोर ही है"। जो अकेले खाता है वह चोर, पापी है। ऋण ही पाप है। सहयोग के आधार पर प्राप्त भोग का उतना ही अंश ग्रहण योग्य है जितना हमारा पुरुषार्थ रहा। उससे ज्यादा ग्रहण करने की वृत्ति ऋण रूपी पापसे लिप्त कर देती है (3)।

भगवदगीता में यज्ञ के प्रकार

गीता में साधक की शुद्धि के लिए यज्ञ के विभिन्न प्रकार बताए गए हैं। उन सब का स्वरूप साधक की पात्रता भेद से कुछ भी हो लेकिन उनका साध्य आत्म शुद्धि है। यज्ञ की एक व्यापक प्रणाली को बताते हुए (4/24) में कहा गया है– "जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्म रूप कर्ता के द्वारा ब्रह्म रूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है- उस ब्रह्म कर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है" (3)।

श्रीअरविंदने कहा है - "जिस विश्व शक्ति में कर्म की आहुति दी जाती है वह स्वयं भगवान हैं ; आरती की उत्सर्ग की हुई शक्ति भगवान हैं; जिस वस्तु की आहुति दी जाती है वह भगवान का ही कोई रूप है , होता भी मनुष्य के अंदर स्वयं भगवान ही हैं ; क्रिया, कर्म, यज्ञ सब गतिशील कर्मशील भगवान ही हैं ; यज्ञ के द्वारा गंतव्य स्थान भी भगवान ही हैं" (8)।

यज्ञ का यह एक आदर्श सिद्धांत है , जो वेदांत के सिद्धांत से मेल खाता है , और मनुष्य को परम तत्व अद्वैत तक ले जाने वाला है। उपलब्ध स्थूल अथवा सूक्ष्मशक्ति रूप साधनों , योग्यताओं को वर्तमान की चेतना से अगले स्तर की अधिक कुछ पवित्र एवं प्रखर चेतना की ओर आरोहण करने में लगाना (आहुति देना) या प्रयत्न की अग्नि में आहुति देना यज्ञ होगा , ऐसा हम समझ सकते हैं। अब चेतना के स्तर में भी विविधता होती है। इसी दृष्टि से यज्ञ कर्म संपादन की कई विधियों के होने से यज्ञ के विभिन्न प्रकार भी बताए गए हैं। यज्ञ के साधन विविध हैं, हव्य भी नानाविध हैं। यहां यज्ञ के 13 प्रकार गीता के चौथे अध्याय में बताए गए हैं जो पात्र भेद के अनुसार निम्नलिखित हैं।

देवताओंके पूजन रूप यज्ञ (4/25) - दूसरे योगी जन देवताओं के पूजन रूप यज्ञ का ही भली-भांति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगी जन परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में अभेद दर्शन रूप यज्ञ के द्वारा ही आत्म रूप यज्ञ का हवन किया करते हैं। श्री अरविंद ने कहा है "दैव यज्ञ करने वाले भगवान की कल्पना, उनके रूपों और शक्तियों में करते हैं और विविध साधनों या धर्म के द्वारा अर्थात कर्म संबंधी सुनिश्चित विधि-विधान, आत्म संयम और उत्कृष्ट कर्म के द्वारा उन्हें ढूंढते हैं " (8)।

ब्रह्माग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ का हवन (4/25) - श्री अरविंद कहते हैं "जो ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करने वाले ज्ञानी हैं, उनके लिए यज्ञ का भाव यह है कि जो कुछ कर्म करें , उसे सीधा भगवान को अर्पण करना। अपनी सारी वृत्तियों और इंद्रिय व्यापारों को एकीभूत भागवत चैतन्य और शक्ति में निक्षिप्त कर देना ही एकमात्र साधन है, एक मात्र धर्म है" (8)।

इंद्रियों को संयम रूपी अग्नि में हवन (4/26) - "अन्य योगी जन श्रोत्र आदि समस्त इंद्रियों को संयम रूप आग्नियों में हवन किया करते हैं"। श्री अरविंद ने कहा है "एक साधना यह है कि इंद्रियों के विषयों का ग्रहण तो किया जाता है , पर उस इंद्रिय व्यापार से मन को कोई क्षोभ नहीं होने दिया जाता। मन पर उसका कोई असर नहीं पड़ने दिया जाता। इंद्रियाँ स्वयं ही विशुद्ध ज्ञानाग्नि बन जाती हैं " (8)। संयम, ज्ञानयुक्त होकर इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग है। इस संयोग का होना यज्ञ के एक प्रकारों में है। जिसमें इन्द्रिय व्यापार निर्धारित लक्ष्य पूरा करके चित्त की शान्ति को बनाये रखते हैं।

विषयों का इंद्रिय रूप अग्निओं में हवन (4/26) -'दूसरे योगी लोग शब्द आदि समस्त विषयों को इंद्रियरूपी अग्नियों में हवन किया करते हैं '; श्री अरविंद ने कहा है –"जिसमें इंद्रियों को इतना स्तब्ध कर दिया जाता है कि अंतरात्मा अपने विशुद्ध स्थिर और शांत रूप में मनः क्रिया के परदे के भीतर से निकलकर प्रकट हो जाता है" (8)।

इंद्रियों तथा प्राणों की संपूर्ण क्रियाओं को आत्म संयमरूप अग्नि में हवन (4/27) - 'दूसरे योगी जन इंद्रियों की संपूर्ण क्रियाओं को और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्म संयम योग रूपी अग्नि में हवन किया करते हैं'। श्री अरविंद के अनुसार, "एक साधनयह है जिससे, आत्म स्वरुप का बोध होने पर सब इंद्रिय कर्म और प्राण कर्म उस एक स्थिर प्रशांत आत्मा में ही ले लिए जाते हैं " (8)। यथार्थ ज्ञान होने पर कर्मों को सहज समेट लेना, प्रत्याहार जैसी स्थिति का वर्णन यहां किया गया है।

द्रव्य यज्ञ (4/28) - 'कई पुरुष द्रव्य संबंधी यज्ञ करने वाले हैं ' (3)। सिद्धि के साधक योगी द्वारा होने वाला कर्म द्रव्य से रहित अथवा द्रव्यमय हो सकती है। कर्म में वह जो द्रव्य का अर्पण करता है, उसे द्रव्य यज्ञ कहा जाएगा। यहां हवि स्थूल द्रव्य , औषधि, घृत आदि बनेगी। वस्तु का दान करना भी द्रव्य यज्ञ के अंतर्गत आता है।

तपोयज्ञ (4/28) -'कितने ही तपस्या रूप यज्ञ करने वाले हैं ' (3)। यहां तपस्या को यज्ञ के भाव से किया जाता है। यज्ञ के मूल सिद्धांत को लक्ष्य करके तप किया जाना इसके अंतर्गत आता है। शास्त्रों में तपसे अशुद्धि का क्षय होना बताया गया है, इसके साथ ही सिद्धियों के अर्जन और शक्तियों के जागरण के लिए भी तप किए जाते रहे हैं।

योगरूप यज्ञ (4/28) - 'दूसरे कितने ही योग रूप यज्ञ करने वाले हैं' (3)। तप की तरह यहां योग का अभ्यास भी यज्ञार्थ किया जाना है। योग साधना को भिन्न वस्तु न कहकर उसे यज्ञ के अंतर्गत ले लिया गया है। आत्मा से परमात्मा को मिलाना योग है। यह मिलन का अभ्यास यज्ञ होगा।

स्वाध्याय रूप ज्ञानयज्ञ (4/28) 'कितने ही अहिंसादि तीव्र व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञान यज्ञ करने वाले हैं' (3)।

अपान का प्राण में प्राण का पान में तथा प्राणों का प्राण में हवन (4/29,30) - 'दूसरे कितने ही साधक अपान वायु में प्राण वायु को हवन करते हैं , वैसे ही अन्य योगी जन प्राण वायुमें अपान वायु को हवन करते हैं , तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायाम परायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं' (3)। प्राण विद्या का प्रयोग, जिससे साधक की प्रखरतामें वृद्धि होती है, विकारों का शमन होता है, यज्ञ कहा गया है। यज्ञ की विस्तृत विधियाँ वस्तुतः भिन्नता से भरी हुई हैं, जिसमें से व्यक्ति अपनी रुचि व पात्रता के अनुरूप विधि का चयन कर सकता है।

यह यज्ञ के समस्त प्रकार वस्तुतः साधनाओं की पद्धतियाँ हैं, जो कि शास्त्र वर्णित हैं, और उन शास्त्रोक्त पद्धतियोंमें से ही कुछ भगवद्गीता में वर्णित की गई हैं। जिसकी सहायतासे साधक के अंतःकरण की शुद्धि ही और वह उच्चतर सत्य के दर्शन का लाभ प्राप्त करे।

श्रीअरविंदने कहा है - "इन सब का फल साधक के आधार की शुद्धि है; सब यज्ञ परम की प्राप्ति के साधन हैं" (8)।

निष्कर्ष

यज्ञ एक व्यवस्थित एवं आदर्श लक्ष्य के लिए होने वाला कर्म है। यह यज्ञ का एक पक्ष हुआ , यज्ञ अपने दूसरे रूप में आत्म शुद्धि की क्रिया है। यज्ञ एक व्यापक एवं सार्वभौमिक अवधारणा है। यह सृष्टि के आरंभ से शुरू होकर प्राणियों एवं प्रकृति की घटनाओं में व्याप्त है। इस यज्ञ प्रणाली के प्रति सजग होकर हम जीवन शैली को प्रकृति के साथ तालबद्धकर सकते हैं और समग्र रूप से जीवन का विकास कर सकते हैं।

हमारे कर्म, क्रिया से ऊपर उठकर समष्टि के हितों के साथ जुड़ें, इसके लिए हमें कर्म को योग बनाना आवश्यक है। जिससे हमारा कर्म, यज्ञ की अवधारणा को स्पर्श कर सके और मानवीय चेतना का विस्तार हो सके। वह अपने क्षुद्र स्वार्थों की कष्टमय बेड़ियों को कर्म योग के आदर्श से तोड़ सके और एक उन्मुक्त यज्ञीय जीवनक्रम को अपनाकर विश्व चेतना के साथ क्रीडा कल्लोल कर सके।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार "संकीर्ण स्वार्थपरता ही भवबंधन है" (10)। इस संकीर्ण मानस को विस्तीर्ण करने के लिए ही मनीषियों ने यज्ञ का दर्शन समझाया और दैनिक यज्ञ-हवन से ही आरंभ कर उसे त्याग के आदर्श को जीवन में जीना सिखाया। इस त्याग से पुनः भोग की प्राप्ति कैसे होती है ? इसका रहस्य भी यज्ञ के द्वारा बताया गया है। यज्ञ का कर्मयोग से संबंध जोड़ कर सिखाया कि 'मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब यज्ञ के लिए ही करता है'।

सन्दर्भ

1. श्री अरविंद. गीता विज्ञान. 4 संस्करण, श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी. 2007, पृष्ठ 82, 83, 84, 119)।
2. तिलक, बालगंगाधर. गीता रहस्य अथवा कर्म योग शास्त्र, 27 वां संस्करण, दी. ज. तिलक, लो. तिलक मंदिर, पूना. संवत 1972 वि., पृष्ठ 54।
3. श्रीमद्भगवद्गीता. 26 वांमुद्रण, गीताप्रेस गोरखपुर. संवत 2069।
4. गांधी, महात्मा. हिन्दू धर्म क्या है. नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली. 2009, पृष्ठ 46।
5. शर्मा, श्रीराम. नियामक सत्ता एवं उसकी विधिव्यवस्था. पुनरावृत्ति, युग निर्माण योजना, मथुरा. 2008, पृष्ठ-5,7।
6. शर्मा, श्रीराम. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा. युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, मथुरा, 1998, पृष्ठ 6.18।
7. श्री अरविंद. गीता प्रबंध. प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, चंद्रदीप श्री अरविंद ग्रंथमाला, पांडिचेरी. 1948, पृष्ठ-173, 174, 175।
8. शर्मा, श्रीराम. असंतोष के कारण एवं निवारण. युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, उ.प्र. 2015, पृष्ठ 7।
9. शर्मा, श्रीराम. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व. अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा. 2013, पृष्ठ-104।